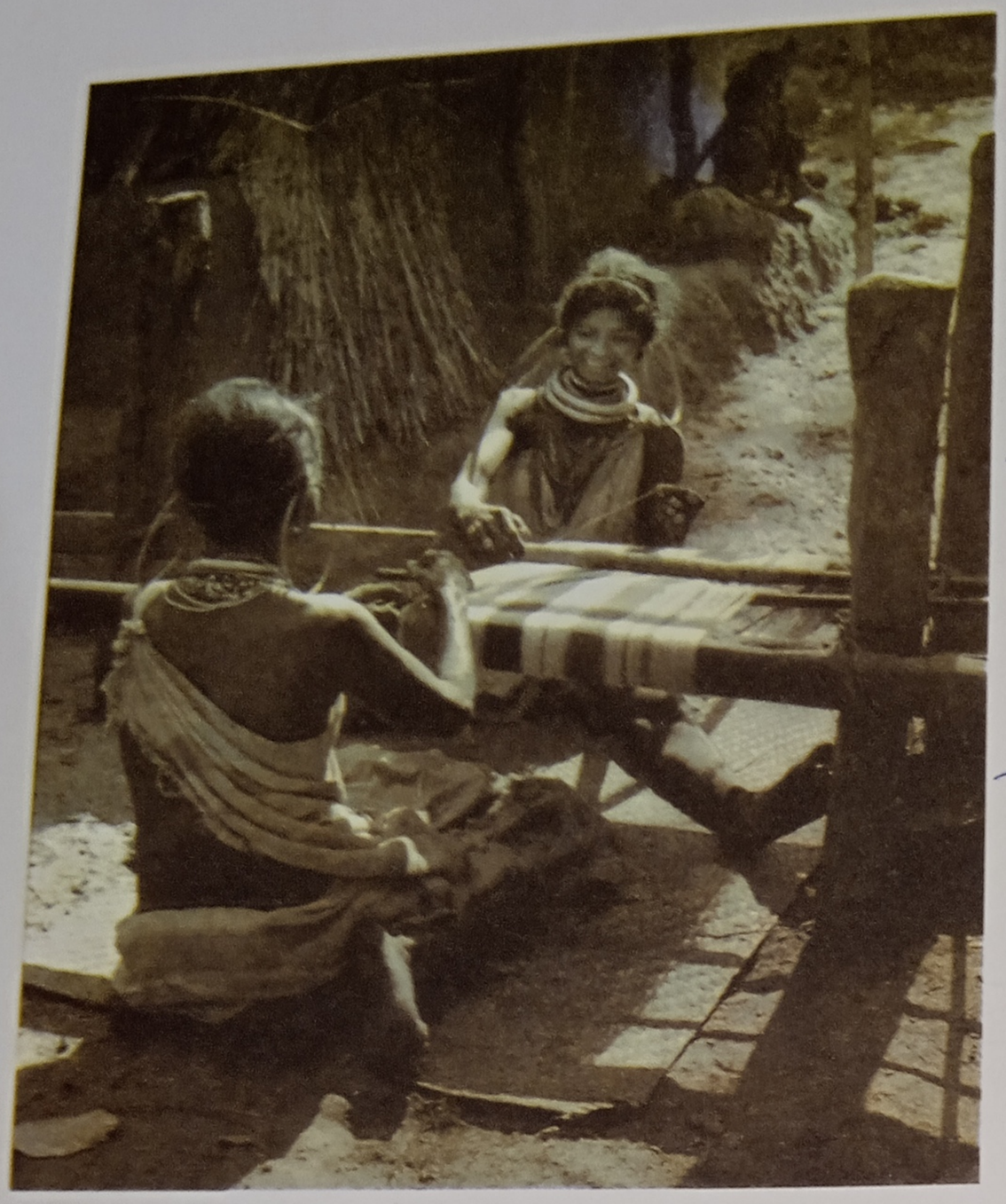

चित्र 8 - गोंदारा औरतें बुनाई करती हुई।

बहुत सारे आदिवासी समूहों ने औपनिवेशिक वन कानूनों का विरोध किया। उन्होंने नए नियमों का पालन करने से इनकार कर दिया और उन्हीं तौर-तरीकों से चलते रहे जिन्हें सरकार गैर-कानूनी घोषित कर चुकी है। कई बार उन्होंने खुलेआम बग़ावत भी कर दी। 1906 में सोंग्रम संगमा द्वारा असम में और 1930 के दशक में मध्य प्रांत में हुआ वन सत्याग्रह इसी तरह के विद्रोह थे।

व्यापार की समस्या

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान जनजातीय समूहों ने पाया कि व्यापारी और महाजन जंगलों में जल्दी-जल्दी आने लगे हैं। वे वन उपज खरीदने, नक़द कर्ज़ा देने और आदिवासियों को मजदूरी पर रखने के लिए आ रहे थे। इन सारे बदलावों से क्या असर पड़ने वाले हैं, यह समझने में आदिवासियों को कुछ समय लगा।

यह समझने के लिए आइए रेशम उत्पादकों की स्थिति को देखें। अठारहवीं सदी में भारतीय रेशम की यूरोपीय बाज़ारों में भारी माँग थी। भारतीय रेशम की अच्छी गुणवत्ता सबको आकर्षित करती थी और भारत का निर्यात तेज़ी से बढ़ रहा था। जैसे-जैसे बाज़ार फैला ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर इस माँग को पूरा करने के लिए रेशम उत्पादन पर ज़ोर देने लगे।

वर्तमान झारखण्ड में स्थित हज़ारीबाग के आस-पास रहने वाले संथाल रेशम के कीड़े पालते थे। रेशम के व्यापारी अपने ऐजेंटों को भेजकर आदिवासियों को कर्ज़े देते थे और उनके कृमिकोषों को इकट्ठा कर लेते थे। एक हज़ार कृमिकोषों के लिए 3-4 रुपए मिलते थे। इसके बाद इन कृमिकोषों को बर्दवान या गया भेज दिया जाता था जहाँ उन्हें पाँच गुना कीमत पर बेचा जाता था। निर्यातकों और रेशम उत्पादकों के बीच कड़ी का काम करने वाले बिचौलियों को जमकर मुनाफ़ा होता था। रेशम उत्पादकों को बहुत मामूली फ़ायदा मिलता था। स्वाभाविक है कि बहुत सारे आदिवासी समुदाय बाज़ार और व्यापारियों को अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानने लगे थे।

***चित्र 9** - चटाई बुनती एक हाजाँग औरत*

औरतों के लिए घरेलू काम सिर्फ़ घर तक ही सीमित नहीं था। वे खेतों और कारखानों में भी अपने बच्चों को साथ लेकर जाती थीं।